जैनदर्शनमें सप्ततत्त्व और षट्द्रव्य

प्रास्ताविक :

अखण्ड मानव-समष्टिको अनेक वर्गोंमें विभक्त कर देनेवाले जितने पंथभेद लोकमें पाये जाते हैं उन सबको यद्यपि 'धर्म' नामसे पुकारा जाता है, परन्तु उन्हें 'धर्म' नाम देना अनुचित मालूम देता है, क्योंकि धर्म एक हो सकता है, दो नहीं, दो-से अधिक भी नहीं, धर्म धर्ममें यदि भेद दिखाई देता है तो उन्हें धर्म समझना ही भूल है।

अपने अन्तःकरणमें क्रोध, दुष्टविचार, अहंकार, छल-कपटपूर्ण भावना, दीनता और लोभवृत्तिको स्थान न देना एवं सरलता, नम्रता और आत्मगौरवके साथ-साथ प्राणिमात्रके प्रति प्रेम, दया तथा सहानुभूति आदि सद्भावनाओंको जाग्रत करना ही धर्मका अन्तरंग स्वरूप माना जा सकता है और मानवताके धरातलपर स्वकीय वाचनिक एवं कायिक प्रवृत्तियोंमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह वृत्तिका यथायोग्य संवर्धन करते हुए समता और परोपकारकी ओर अग्रसर होना धर्मका बाह्य स्वरूप मानना चाहिये।

पन्थ-भेदपर अवलंबित मानवसमष्टिके सभी वर्गोंको धर्मकी यह परिभाषा मान्य होगी, इसलिये सभी वर्गोंकी परस्पर भिन्न सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मान्यताओं—जिन्हें लोकमें 'धर्म' नामसे पुकारा जाता है—के बीच दिखाई देनेवाले भेदको महत्त्व देना अनुचित जान पड़ता है।

मेरी मान्यता यह है कि मानव समष्टिके हिन्दू, जैन, बौद्ध, पारसी, सिख, मुसलमान और ईसाई आदि वर्गोंमें एक दूसरे वर्गसे विलक्षण जो सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मान्यतायें पाई जाती हैं उन मान्यताओं को 'धर्म' न मानकर धर्म-प्राप्तिकी साधनस्वरूप 'संस्कृति' मानना ही उचित है। प्रत्येक मानव, यदि उसका लक्ष्य धर्म-प्राप्तिकी ओर है तो लोकमें पाई जानेवाली उक्त सभी संस्कृतियोंमेंसे किसी भी संस्कृतिको अपनाकर उल्लिखित अविवादी धर्मको प्राप्त कर सकता है। संस्कृतिको ही धर्म मान लेनेकी भ्रान्तिपूर्ण प्रचलित परिपाटी-से हिन्दू, जैन आदि सभी वर्गोंका उक्त वास्तविक धर्मकी ओर झुकाव ही नहीं रह गया है। इसीलिये इन वर्गोंमें विविध प्रकारके अनर्थकर विकारों, पाखण्डों एवं रूढ़ियोंको अधिक प्रश्रय मिला हुआ है और इस सबका परिणाम यह हुआ है कि जहाँ उक्त वास्तविक धर्म मनुष्यके जीवनसे सर्वथा अलग होकर एक लोकोत्तर वस्तु मात्र रह गया है वहाँ मानवतासे विहीन तथा अन्याय और अत्याचारसे परिपूर्ण उच्छृङ्खल जीवनप्रवृत्तियोंके सद्भावमें भी संस्कृतिका छद्मवेष धारण करने मात्रसे प्रत्येक मानव अपनेको और अपने वर्गको कट्टर धर्मात्मा समझ रहा है। इतना ही नहीं, अपनी संस्कृतिसे भिन्न दूसरी सभी संस्कृतियोंको अधर्म मानकर उनमेंसे किसी भी संस्कृतिके माननेवाले व्यक्ति तथा वर्गको धर्मके उल्लिखित चिह्न मौजूद रहनेपर भी वह अधर्मात्मा ही मानना चाहता है और मानता है और एक ही संस्कृतिका उपासक वह व्यक्ति भी उसकी दृष्टिमें अधर्मात्मा ही है जो उस संस्कृतिके नियमोंकी ढोंगपूर्वक ही सही, आवृत्ति करना जरूरी नहीं समझता है, भले ही वह अपने जीवनको धर्ममय बनानेका सच्चा प्रयत्न कर रहा हो। इस तरह आज प्रत्येक वर्ग और वर्गके प्रत्येक मानवमें मानवताको कलंकित करनेवाले परस्पर विद्वेष, घृणा, ईर्षा और कलहके दर्दनाक चित्र दिखाई दे रहे हैं।

यदि प्रत्येक मानव और प्रत्येक वर्ग धर्मकी उल्लिखित परिभाषाको ध्यानमें रखते हुए उसे संस्कृतिका साध्य और संस्कृतिको उसका साधन मान लें तो उन्हें यह बात सरलताके साथ समझमें आजायगी कि वही संस्कृति सच्ची और उपादेय हो सकती है तथा उस संस्कृतिको ही लोकमें जीवित रहनेका अधिकार प्राप्त हो सकता है जो मानव जगत्‌को धर्मकी ओर अग्रसर करा सके और ऐसा होनेपर प्रत्येक मानव तथा प्रत्येक वर्ग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने जीवनको धर्ममय बनानेके लिये अपनी संस्कृतिको विकारों, पाखण्डों और रूढ़ियोंसे परिष्कृत बनाते हुए अधिक-से-अधिक धर्मके अनुकूल बनानेके प्रयत्नमें लग जायेंगे तथा उनमेंसे अहंकार, पक्षपात और हठके साथ-साथ परस्परके विद्वेष, घृणा, ईर्षा और कलहका खातमा होकर सम्पूर्ण मानव-समष्टिमें विविध संस्कृतियोंके सद्भावमें भी एकता और प्रेमका रस प्रवाहित होने लगेगा।

मेरा इतना लिखनेका प्रयोजन यह है कि जिसे लोकमें 'जैन धर्म, नामसे पुकारा जाता है उसमें दूसरी दूसरी जगह पाये जानेवाले विशुद्ध धार्मिक अंशको छोड़कर सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मान्यताओंके रूपमें जितना जैनत्वका अंश पाया जाता है उसे 'जैन संस्कृति' नाम देना ही उचित है, इसलिये लेखके शीर्षकमें मैंने 'जैनधर्म'के स्थानपर 'जैनसंस्कृति' शब्दका प्रयोग उचित समझा है और लेखके अन्दर भी यथास्थान धर्मके स्थानपर संस्कृति शब्दका ही प्रयोग किया जायगा।

विषयप्रवेश

किसी भी संस्कृतिके हमें दो पहलू देखनेको मिलते हैं—एक संस्कृतिका आचार-संबन्धी पहलू और दूसरा उसका सिद्धान्त-सम्बन्धी पहलू।

जिसमें निश्चित उद्देश्यकी पूर्तिके लिये प्राणियोंके कर्त्तव्यमार्गका विधान पाया जाता है वह संस्कृतिका आचारसम्बन्धी पहलू है। जैनसंस्कृतिमें इसका व्यवस्थापक चरणानुयोग माना गया है और आधुनिक भाषा-प्रयोगकी शैलीमें इसे हम 'कर्त्तव्यवाद' कह सकते हैं।

संस्कृतिके सिद्धान्त-सम्बन्धी पहलूमें उसके (संस्कृतिके) तत्त्वज्ञान (पदार्थव्यवस्था) का समावेश होता है। जैनसंस्कृतिमें इसके दो विभाग कर दिये हैं—एक सप्ततत्त्वमान्यता और दूसरी षड्द्रव्यमान्यता। सप्ततत्त्वमान्यतामें जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात पदार्थोंका और षड्द्रव्य-मान्यतामें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह पदार्थोंका समावेश किया गया है। जैन-संस्कृतिमें पहली मान्यताका व्यवस्थापक करणानुयोग और दूसरी मान्यताका व्यवस्थापक द्रव्यानुयोगको माना गया है। आधुनिक भाषाप्रयोगकी शैलीमें करणानुयोगको उपयोगितावाद और द्रव्यानुयोगको अस्तित्ववाद (वास्तविकतावाद) कहना उचित जान पड़ता है। यद्यपि जैन संस्कृतिके शास्त्रीय व्यवहारमें करणानुयोगको आध्यात्मिक पद्धति और द्रव्यानुयोगको दार्शनिक पद्धति इस प्रकार दोनोंको अलग-अलग पद्धतिके रूपमें विभक्त किया गया है। परन्तु मैं उपयोगितावाद और अस्तित्ववाद दोनोंको दार्शनिक पद्धतिसे बाह्य नहीं करना चाहता हूँ क्योंकि मैं समझता हूँ कि भारतवर्षके सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, योग, न्याय और वैशेषिक आदि सभी वैदिक तथा जैन, बौद्ध और चार्वाक आदि सभी अवैदिक दर्शनोंका मूलतः विकास उपयोगितावादके आधारपर ही हुआ है, इसलिये मेरी मान्यताके अनुसार करणानुयोगको भी दार्शनिक पद्धतिसे बाह्य नहीं किया जा सकता है।

जगत् क्या और कैसा है? जगत्में कितने पदार्थोंका अस्तित्व है? उन पदार्थोंके कैसे-कैसे विपरिणाम होते हैं? इत्यादि प्रश्नोंके आधारपर प्रमाणों द्वारा पदार्थोंके अस्तित्व और नास्तित्वके विषयमें विचार करना अथवा पदार्थोंके अस्तित्व या नास्तित्वको स्वीकार करना अस्तित्ववाद (वास्तविकतावाद) और जगत्के प्राणी दुःखी क्यों हैं? वे सुखी कैसे हो सकते हैं? इत्यादि प्रश्नोंके आधारपर पदार्थोंकी लोककल्याणोपयोगिताके आधारपर प्रमाणसिद्ध अथवा प्रमाणों द्वारा असिद्ध भी पदार्थोंको पदार्थ व्यवस्थामें स्थान देना उपयोगितावाद समझना चाहिये। संक्षेपमें पदार्थोंके अस्तित्वके बारेमें विचार करना अस्तित्ववाद और पदार्थोंकी उपयोगिताके बारेमें विचार करना उपयोगितावाद कहा जा सकता है। अस्तित्ववादके आधारपर वे सब पदार्थ मान्यताकी कोटिमें पहुँचते हैं जिनका अस्तित्व मात्र प्रमाणों द्वारा सिद्ध होता हो, भले ही वे पदार्थ लोककल्याणके लिये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपयोगी सिद्ध हों अथवा उनका लोककल्याणोपयोगितासे थोड़ा भी सम्बन्ध न हो और उपयोगितावादके आधार पर वे सब पदार्थ मान्यताकी कोटिमें स्थान पाते हैं, जो लोककल्याणके लिये उपयोगी सिद्ध होते हों, भले ही उनका अस्तित्व प्रमाणों द्वारा सिद्ध हो सकता हो अथवा उनके अस्तित्वकी सिद्धिके लिये कोई प्रमाण उपलब्ध न भी हो।

दर्शनोंमें आध्यात्मिकता और आधिभौतिकताका भेद दिखलानेके लिये उक्त उपयोगितावादको ही आध्यात्मिकवाद और उक्त अस्तित्ववादको ही आधिभौतिकवाद कहना चाहिये, क्योंकि आत्मकल्याणको ध्यानमें रखकर पदार्थ-प्रतिपादन करनेका नाम आध्यात्मिकवाद और आत्मकल्याणकी ओर लक्ष्य न देते हुए भूत अर्थात् पदार्थोंके अस्तित्वमात्रको स्वीकार करनेका नाम आधिभौतिकवाद मान लेना मुझे अधिक संगत प्रतीत होता है। जिन विद्वानोंका यह मत है कि समस्त चेतन-अचेतन जगतकी सृष्टि अथवा विकास आत्मा-से मानना आध्यात्मिकवाद और उपर्युक्त जगतकी सृष्टि अथवा विकास अचेतन अर्थात् जड़ पदार्थसे मानना आधिभौतिकवाद है उन विद्वानोंके साथ मेरा स्पष्ट मतभेद है। इस मतभेदसे भी मेरा तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिकवाद और आधिभौतिकवादके उनको मान्य अर्थके अनुसार उन्होंने जो वेदान्तदर्शनको आध्यात्मिक दर्शन और चार्वाकदर्शनको आधिभौतिक दर्शन मान लिया है वह ठीक नहीं है। मेरा यह स्पष्ट मत है और जिसे मैं पहिले लिख चुका हूँ कि सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, योग, न्याय और वैशेषिक ये सभी वैदिक दर्शन तथा जैन, बौद्ध और चार्वाक ये सभी अवैदिक दर्शन पूर्वोक्त उपयोगितावादके अधारपर ही प्रादुर्भूत हुए हैं। इसलिये ये सभी दर्शन आध्यात्मिकवादके ही अन्तर्गत माने जाने चाहिये। उक्त दर्शनोंमेंसे किसी भी दर्शनका अनुयायी अपने दर्शनके बारेमें यह आक्षेप सहन करने को तैयार नहीं हो सकता है कि उसके दर्शनका विकास लोककल्याणके लिये नहीं हुआ है और इसका भी सबब यह है कि भारतवर्ष सर्वदा धर्मप्रधान देश रहा है। इसलिये समस्त भारतीय दर्शनोंका मूल आधार उपयोगितावाद मानना ही संगत है। इसका विशेष स्पष्टी-करण नीचे किया जा रहा है—

'लोककल्याण' शब्दमें पठित लोकशब्द 'जगत्का प्राणिसमूह' अर्थमें व्यवहृत होता हुआ देखा जाता है, इसलिये यहाँपर लोककल्याणशब्दसे 'जगत्के प्राणिसमूहका कल्याण' अर्थ ग्रहण करना चाहिये। कोई-कोई दर्शन प्राणियोंके दृश्य और अदृश्य दो भेद स्वीकार करते हैं और किन्हीं-किन्हीं दर्शनोंमें सिर्फ दृश्य प्राणियोंके अस्तित्वको ही स्वीकार किया गया है। दृश्य प्राणी भी दो तरह के पाये जाते हैं—एक प्रकारके दृश्य प्राणी वे हैं जिनका जीवन प्रायः समष्टि-प्रधान रहता है। मनुष्य इन्हीं समष्टि-प्रधान जीवनवाले प्राणियोंमें गिना गया है क्योंकि मनुष्योंके सभी जीवन-व्यवहार प्रायः एक-दुसरे मनुष्यकी सद्भावना, सहानुभूति और सहायता-पर ही निर्भर हैं, मनुष्योंके अतिरिक्त शेष सभी दृश्य प्राणी पशु-पक्षी, सर्प-बिच्छू, कीट-पतंग वगैरह व्यष्टि-प्रधान जीवनवाले प्राणी कहे जा सकते हैं क्योंकि इनके जीवन-व्यवहारोंमें मनुष्यों जैसी परस्परकी सद्भावना, सहानुभूति और सहायताकी आवश्यकता प्रायः देखनेमें नहीं आती है। इस व्यष्टिप्रधान जीवनकी समानताके कारण ही इन पशु-पक्षी आदि प्राणियोंको जैनदर्शनमें 'तिर्यग्' नामसे पुकारा जाता है, कारण कि 'तिर्यग्' शब्दका समानता अर्थमें भी प्रयोग देखा जाता है। सभी भारतीय दर्शनकारोंने अपने-अपने दर्शनके विकासमें अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार यथायोग्य जगत्के इन दृश्य और अदृश्य प्राणियोंके कल्याणका ध्यान अवश्य रखा है। चार्वाकदर्शनको छोड़कर उल्लिखित सभी भारतीयदर्शनोंमें प्राणियोंके जन्मान्तररूप परलोकका समर्थन किया गया है। इसलिये इन दर्शनोंके आविष्कर्ताओंकी लोककल्याणभावनाके प्रति तो संदेह करनेकी गुंजाइश ही नहीं है लेकिन उपलब्ध साहित्यसे जो थोड़ा बहुत चार्वाकदर्शनका हमें दिग्दर्शन होता है उससे उसके (चार्वाकदर्शनके) आविष्कर्ताकी भी लोककल्याणभावनाका पता हमें सहज में ही लग जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ।।"

इस पद्यमें हमें चार्वाकदर्शनकी आत्माका स्पष्ट आभास मिल जाता है। इस पद्यका आशय यह है कि "धर्म मनुष्यके कर्त्तव्यमार्गका नाम है और वह जब लोककल्याणके लिये है तो उसे अखण्ड एकरूप होना चाहिये, नानारूप नहीं, लेकिन धर्मतत्त्वकी प्रतिपादक श्रुतियाँ और स्मृतियाँ नाना और परस्परविरोधी अर्थको कहने वाली देखी जाती हैं। हमारे धर्मप्रवर्तक महात्माओंने भी धर्मतत्त्वका प्रतिपादन एकरूपसे न करके भिन्न-भिन्न रूपसे किया है। इसलिये इनके (धर्मप्रवर्तक महात्माओंके) वचनोंको भी सर्वसम्मत प्रमाण मानना असंभव है। ऐसी हालतमें धर्मतत्त्व साधारण मनुष्योंके लिये गूढ़ पहेली बन गया है अर्थात् धर्मतत्त्वको समझनेमें हमारे लिये श्रुति, स्मृति या कोई भी धर्मप्रवर्तक सहायक नहीं हो सकता है। इसलिये धर्मतत्त्वकी पहेलीमें न उलझ करके हमें अपने कर्त्तव्यमार्गका निर्णय महापुरुषोंके कर्त्तव्यमार्गके आधारपर ही करते रहना चाहिये। तात्पर्य यह है कि महापुरुषोंका प्रत्येक कर्त्तव्य स्वपरकल्याणके लिये ही होता है। इसलिये हमारा जो कर्त्तव्य स्वपरकल्याणविरोधी न हो उसे ही अविवादरूपसे हमको धर्म समझ लेना चाहिये।"

मालूम पड़ता है कि चार्वाक दर्शनके आविष्कर्ताका अन्तःकरण अवश्य ही धर्मके बारेमें पैदा हुए लोककल्याणके लिये खतरनाक मतभेदोंसे ऊब चुका था। इसलिये उसने लोकके समक्ष इस बातको रखनेका प्रयत्न किया था कि जन्मान्तररूप परलोक, स्वर्ग और नरक तथा मुक्तिकी चर्चा—जो कि विवादके कारण जनहितकी घातक हो रही है—को छोड़कर हमें केवल ऐसा मार्ग चुन लेना चाहिये जो जनहितका साधक हो सकता है और ऐसे कर्त्तव्यमार्गमें किसीको भी विवाद करनेकी कम गुंजाइश रह सकती है।

"यावज्जीवं सुखी जावेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।"

यह जो चार्वाक दर्शनकी मान्यता बतलाई जाती है वह कुछ भ्रममूलक जान पड़ती है अर्थात् यह उन लोगोंका चार्वाकदर्शनके बारेमें आक्षेप है जो सांप्रदायिक विद्वेषके कारण चार्वाकदर्शनको सहन नहीं कर सकते थे।

समस्त दर्शनोंमें बीजरूपसे इस उपयोगितावादको स्वीकार लेने पर ये सभी दर्शन जो एक-दूसरेके अत्यन्त विरोधी मालूम पड़ रहे हैं, ऐसा न होकर अत्यन्त निकटतम मित्रोंके समान दिखने लगेंगे अर्थात् उक्त प्रकारसे चार्वाक दर्शनमें छिपे हुए उपयोगितावादके रहस्यको समझ लेनेपर कौन कह सकता है कि उसका (चार्वाकदर्शनका) परलोकादिके बारेमें दूसरे दर्शनोंके साथ जो मतभेद है वह खतरनाक है क्योंकि जहाँ दूसरे दर्शन परलोकादिको आधार मानकर हमें मनुष्योचित कर्त्तव्यमार्ग पर चलनेकी प्रेरणा करते हैं वहाँ चार्वाक दर्शन सिर्फ वर्तमान जीवनको सुखी बनानेके उद्देश्यसे ही हमें मानवोचित कर्त्तव्यमार्गपर चलनेकी प्रेरणा करता है। चार्वाकदर्शनकी इस मान्यताका दूसरे दर्शनोंकी मान्यताके साथ समानतामें हेतु यह है कि परलोकादिके अस्तित्वको स्वीकार करनेके बाद भी सभी दर्शनकारोंको इस वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आना पड़ता है कि "मनुष्य अपने वर्तमान जीवनमें अच्छे कृत्य करके ही परलोकमें सुखी हो सकता है या स्वर्ग पा सकता है।" इसलिये चार्वाक मतका अनुयायी यदि अपने वर्तमान जीवनमें अच्छे कृत्य करता है तो परलोक या स्वर्गके अस्तित्वको न मानने मात्रसे उसे परलोकमें सुख या स्वर्ग पानेसे कौन रोक सकता है ? अन्यथा इसी तरह नरकका अस्तित्व न माननेके सबब पाप करनेपर भी उसका नरकमें जाना कैसे संभव हो सकेगा ? तात्पर्य यह है कि एक प्राणी नरकके अस्तित्वको न मानते हुए भी बुरे कृत्य करके यदि नरक जा सकता है तो दूसरा प्राणी स्वर्गके अस्तित्वको न मानते हुए अच्छे कृत्य करके स्वर्ग भी जा सकता हैं। परलोक तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वर्गादिके अस्तित्वको न मानने वाला व्यक्ति अच्छे कृत्य कर ही नहीं सकता है, यह बात कोई भी विवेकी व्यक्ति माननेको तैयार न होगा, कारणकि हम पहले बतला आये हैं कि मनुष्यका जीवन परस्परकी सद्भावना, सहानुभूति और सहायताके आधारपर ही सुखी हो सकता है। यदि एक मनुष्यको अपना जीवन सुखी बनानेके लिये सम्पूर्ण साधन उपलब्ध हैं और दूसरा उसका पड़ौसी मनुष्य चार दिनसे भूखा पड़ा हुआ है तो ऐसी हालतमें या तो पहिले व्यक्तिको दूसरे व्यक्तिके बारेमें सहायताके रूपमें अपना कोई न कोई कर्त्तव्य निश्चित करना होगा, अन्यथा नियमसे दूसरा व्यक्ति पहिले व्यक्तिके सुखी जीवनको ठेस पहुँचानेका निमित्त बन जायेगा। तात्पर्य यह है कि हमें परलोककी मान्यतासे अच्छे कृत्य करनेकी जितनी प्रेरणा मिल सकती है उससे भी कहीं अधिक प्रेरणा वर्तमान जीवनको सुखी बनानेकी आकांक्षासे मिलती है, चार्वाकदर्शनका अभिप्राय इतना ही है।

बौद्धोंके क्षणिकवाद और ईश्वरकर्तृत्ववादियोंके ईश्वरकर्तृत्ववादमें भी यही उपयोगितावादका रहस्य छिपा हुआ है। बौद्धदर्शनमें एक वाक्य पाया जाता है—"वस्तुनि क्षणिकत्वपरिकल्पना आत्मबुद्धिनिरासार्थम्" अर्थात् पदार्थोंमें जगत्के प्राणियोंके अनुचित राग, द्वेष और मोहको रोकनेके लिये ही बौद्धोंने पदार्थोंकी अस्थिरताका सिद्धान्त स्वीकार किया है। इसी प्रकार जगत्का कर्ता अनादि-निधन एक ईश्वरको मान लेनेसे संसारके बहुजन समाजको अपने जीवनके सुधारमें काफी प्रेरणा मिल सकती है। तात्पर्य यह है कि एक व्यक्ति पदार्थोंकी क्षणभंगुरता स्वीकार करके उनसे विरक्त होकर यदि आत्मकल्याणकी खोज कर सकता है और दूसरा व्यक्ति ईश्वरको कर्ता-धर्ता मान करके उसके भयसे यदि अनर्थोंसे बच सकता है तो इस तरह उन दोनों व्यक्तियोंके लिये क्षणिकत्ववाद और ईश्वरकर्तृत्ववाद दोनोंकी उपयोगिता स्वयं सिद्ध हो जाती है। इसलिये इन दोनों मान्यताओंके औचित्यके बारेमें "पदार्थ क्षणिक हो सकता है या नहीं ? जगत्का कर्ता ईश्वर है या नहीं ?" इत्यादि प्रश्नोंके आधारपर विचार न करके "क्षणिकत्ववाद अथवा ईश्वरकर्तृत्ववाद लोककल्याणके लिये उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं या नहीं ?" इत्यादि प्रश्नोंके आधारपर ही विचार करना चाहिये।

सांख्य और वेदान्तदर्शनोंकी पदार्थमान्यतामें उपयोगितावादकी स्पष्ट झलक दिखाई देती है, इसका स्पष्टीकरण 'षड्द्रव्यमान्यताके' प्रकरणमें किया जायगा।

मीमांसादर्शनका भी आधार मनुष्योंको स्वर्ग प्राप्तिके उद्देश्यसे यागादि कार्योंमें प्रवृत्त कराने रूप उपयोगितावाद ही है तथा जैनदर्शनमें तो उपयोगितावादके आधारपर सप्ततत्वमान्यता और अस्तित्ववादके आधारपर षड्द्रव्यमान्यता इस प्रकार पदार्थव्यवस्थाको ही अलग-अलग दो भागोंमें विभक्त कर दिया गया है।

इस तरहसे समस्त भारतीयदर्शनोंमें मूलरूपसे उपयोगितावादके विद्यमान रहते हुए भी अफसोस है कि धीरे-धीरे सभी दर्शन उपयोगितावादके मूलभूत आधारसे निकल कर अस्तित्ववादके उदरमें समा गये अर्थात् प्रत्येक दर्शनमें अपनी व दूसरे दर्शनकी प्रत्येक मान्यताके विषयमें अमुक मान्यता लोककल्याणके लिये उपयोगी है या नहीं ?' इस दृष्टिसे विचार न होकर 'अमुक मान्यता संभव हो सकती है या नहीं ?' इस दृष्टिसे विचार होने लग गया और इसका यह परिणाम हुआ कि सभी दर्शकारोंने अपने-अपने दर्शनोंके भीतर उपयोगिता और अनुपयोगिताकी ओर ध्यान न देते हुए अपनी मान्यताको संभव और सत्य तथा दूसरे दर्शनकारोंकी मान्यताको असंभव और असत्य सिद्ध करनेका दुराग्रहपूर्ण एवं परस्पर कलह पैदा करने वाला ही प्रयास किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. सप्ततत्त्व

ऊपर बतलाये गये दर्शनोंमें परलोक, स्वर्ग, नरक और मुक्तिकी मान्यताके विषयमें जो मतभेद पाया जाता है उसके आधारपर उन दर्शनोंमें लोककल्याणकी सीमा भी यथासंभव भिन्न-भिन्न प्रकारसे निश्चित की गयी है। चार्वाकदर्शनमें प्राणियोंका जन्मान्तररूप परलोक, पुण्यका फल परलोकमें सुखप्राप्तिका स्थान स्वर्ग, पापका फल परलोकमें दुःखप्राप्तिका स्थान नरक और प्राणियोंके जन्म-मरण अथवा सुख-दुःखकी परम्परारूप संसारका सर्वथा विच्छेदस्वरूप निःश्रेयसका स्थान मुक्ति इन तत्त्वोंकी मान्यता नहीं है इसलिये वहाँपर लोक-कल्याणकी सीमा प्राणियोंके और विशेषकर मानवसमाजके वर्तमान जीवनकी सुख-शान्तिको लक्ष्य करके ही निर्धारित की गयी है और इसी लोककल्याणको ध्यानमें रखकरके ही वहाँ पदार्थोंकी व्यवस्थाको स्थान दिया गया है। मीमांसादर्शनमें यद्यपि प्राणियोंके जन्म-मरण अथवा सुख-दुःखकी परंपरारूप संसारका सर्वथा विच्छेद स्वरूप निःश्रेयस और उसका स्थान मुक्ति इन तत्त्वोंकी मान्यता नहीं है। वहाँपर स्वर्गसुखको ही निःश्रेयस पदका और स्वर्गको ही मुक्तिपदका वाच्य स्वीकार किया गया है, फिर भी प्राणियोंका जन्मान्तररूप परलोक, पुण्यका फल परलोकमें सुखप्राप्तिका स्थान स्वर्ग और पापका फल परलोकमें दुःखप्राप्तिका स्थान नरक इन तत्त्वोंको वहाँ अवश्य स्वीकार किया गया है। इसलिये वहाँपर लोककल्याणकी सीमा प्राणियोंके वर्तमान (ऐहिक) जीवनके साथ-साथ परलोककी सुखशान्तिको ध्यानमें रखकर निर्धारित की गई है और इसी लोककल्याणको ध्यानमें रखकरके ही वहाँ पदार्थ-व्यवस्थाको स्थान दिया गया है। चार्वाक और मीमांसा दर्शनोंके अतिरिक्त शेष उल्लिखित वैदिक और अवैदिक सभी दर्शनोंमें उक्त प्रकारके परलोक, स्वर्ग और नरककी मान्यताके साथ-साथ प्राणियोंके जन्म-मरण अथवा सुख-दुःखकी परंपरारूप संसारका सर्वथा विच्छेदस्वरूप निःश्रेयस और निःश्रेयसका स्थान मुक्तिकी मान्यताको भी स्थान प्राप्त है। इसलिये इन दर्शनोंमें लोककल्याणकी सीमा प्राणियोंके ऐहिक और पारलौकिक सुख-शान्तिके साथ-साथ उक्त निःश्रेयस और मुक्तिको भी ध्यानमें रखते हुए निर्धारित की गयी है और इसी लोककल्याणके आधारपर ही इन दर्शनोंमें पदार्थव्यवस्थाको स्वीकार किया गया है।

तात्पर्य यह है कि चार्वाक दर्शनको छोड़कर परलोकको माननेवाले मीमांसादर्शनमें और परलोकके साथ-साथ मुक्तिको भी माननेवाले सांख्य, वेदान्त, योग, न्याय, वैशेषिक, जैन और बौद्ध दर्शनोंमें जगत्के प्रत्येक प्राणीके शरीरमें स्वतंत्र और शरीरके साथ घुल-मिल करके रहनेवाला एक चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्व स्वीकार किया गया है। यद्यपि सर्वसाधारण मनुष्योंके लिये इसका प्रत्यक्ष नहीं होता है और न ऐसा कोई विशिष्ट पुरुष ही वर्तमानमें मौजूद है जिसको इसका प्रत्यक्ष हो रहा हो। परन्तु इतना अवश्य है कि प्रत्येक प्राणीमें दूसरे प्राणियोंकी प्रेरणाके बिना ही जगत्के पदार्थोंके प्रति राग, द्वेष या मोह करना अथवा विरक्ति अर्थात् समताभाव रखना, तथा हर्ष करना, विषाद करना दूसरे प्राणियोंका अपकार करना, पश्चात्ताप करना, परोपकार करना, हंसना, रोना, सोचना, समझना, सुनना, देखना, सूंघना, खाना, पीना, बोलना, बैठना, चलना, काम करना, थक जाना, विश्रान्ति लेना, पुनः काममें जुट जाना, सोना, जागना और पैदा होकर छोटे-से बड़ा होना इत्यादि यथासंभव जो विशिष्ट व्यापार पाये जाते हैं वे सब व्यापार प्राणिवर्गको लकड़ी, मिट्टी, पत्थर, मकान, कपड़ा, बर्तन, कुर्सी, टेबुल, सोना चाँदी, लोहा, पीतल, घंटी, घड़ी, ग्रामोफोन, रेडियो, सिनेमाके चित्र, मोटर, रेलगाड़ी, टेंक, हवाई जहाज और उड़नबम आदि व्यापारशून्य तथा प्राणियोंकी प्रेरणा पाकर व्यापार करनेवाले पदार्थोंसे पृथक कर देते हैं और इन व्यापारोंके आधारपर ही उक्त दर्शनोंमें यह स्वीकार कर लिया गया है कि प्रत्येक प्राणीके शरीरमें शरीरसे पृथक् एक-एक ऐसा तत्त्व भी विद्यमान है, जिसकी प्रेरणासे ही प्रत्येक प्राणीमें उल्लिखित विशिष्ट व्यापार हुआ करते हैं। इस तत्त्वको सभी दर्शन, चित्-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शक्तिविशिष्ट स्वीकार करते हैं तथा अपने-अपने अभिप्रायके अनुसार सभी दर्शन इसको पुरुष, आत्मा, जीव, जीवात्मा, ईश्वरांश या परब्रह्मांश आदि यथायोग्य अलग नामोंसे उल्लेख करते हैं।

प्रत्येक प्राणीके शरीरमें एक-एक चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वके अस्तित्वकी समान स्वीकृति रहते हुए भी उक्त दर्शनोंमेंसे कोई-कोई दर्शन तो इन सभी चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंको परस्पर मूलतः ही पृथक्-पृथक् स्वीकार करते हैं और कोई-कोई ईश्वर या परब्रह्मके एक-एक अंशके रूपमें इन्हें पृथक्-पृथक् स्वीकार करते हैं। अर्थात् कोई-कोई दर्शन उक्त चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंकी स्वतंत्र अनादि सत्ता स्वीकार करते हैं और कोई दर्शन उनकी नित्य और व्यापक ईश्वर या परब्रह्मसे उत्पत्ति स्वीकार करके एक-एक चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वको उक्त ईश्वर या परब्रह्मका एक-एक अंश मानते हैं, उन्हें मूलतः पृथक्-पृथक् नहीं मानते हैं। सांख्य, मीमांसा आदि कुछ दर्शनोंके साथ-साथ जैनदर्शन भी संपूर्ण चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंकी स्वतंत्र अनादि सत्ता स्वीकार करके उन्हें परस्पर भी पृथक्-पृथक् ही मानता है।

उक्त प्रकारसे चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वकी सत्ताको स्वीकार करनेवाले सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, योग, न्याय, वैशेषिक, जैन और बौद्ध ये सभी दर्शन प्राणियोंको समय-समयपर होनेवाले सुख तथा दुःखका भोक्ता उन प्राणियोंके अपने-अपने शरीरमें रहनेवाले चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वको ही स्वीकार करते हैं सभी दर्शनोंकी इस समान मूलमान्यताके आधारपर उनमें (सभी दर्शनोंमें) समानरूपसे निम्नलिखित चार सिद्धान्त स्थिर हो जाते हैं—

(१) प्रत्येक प्राणीके अपने-अपने शरीरमें मौजूद तथा भिन्न-भिन्न दर्शनोंमें पुरुष, आत्मा, जीव, जीवात्मा, ईश्वरांश या परब्रह्मांश आदि यथायोग्य भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारे जानेवाले प्रत्येक चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वका अपने-अपने शरीरके साथ आबद्ध होनेका कोई-न-कोई कारण अवश्य है।

(२) जब कि प्राणियोंके उल्लिखित विशिष्ट व्यापारोंके प्रादुर्भाव और सर्वथा विच्छेदके आधारपर प्रत्येक चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वकी अपने-अपने वर्तमान शरीरके साथ प्राप्त हुई बद्धताका जन्म और मरणके रूपमें आदि तथा अन्त देखा जाता है तो मानना पड़ता है कि ये सभी चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्व सीमित काल तक ही अपने-अपने वर्तमान शरीरमें आबद्ध रहते हैं। ऐसी हालतमें यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि अपने-अपने वर्तमान शरीरके साथ आबद्ध होनेसे पहले ये चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्व किस रूपमें विद्यमान रहे होंगे? यदि कहा जाय कि अपने-अपने वर्तमान शरीरके साथ आबद्ध होनेसे पहले वे सभी चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्व शरीरके बन्धनसे रहित बिल्कुल स्वतंत्र थे, तो प्रश्न उठता है कि इन्हें अपने-अपने वर्तमान शरीरके साथ आबद्ध होनेका कारण अकस्मात् कैसे प्राप्त हो गया? इस प्रश्नका उचित समाधान न मिल सकनेके कारण चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वकी सत्ताको स्वीकार करनेवाले उक्त सभी दर्शनोंमें यह बात स्वीकार की गयी है कि अपने-अपने वर्तमान शरीरके साथ आबद्ध होनेसे पूर्व भी ये सभी चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्व किसी दूसरे अपने-अपने शरीरके साथ आबद्ध रहे होंगे और उससे भी पूर्व किसी दूसरे-दूसरे अपने-अपने शरीरके साथ आबद्ध रहे होंगे। इस प्रकार सभी चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंकी शरीरबद्धताकी वह पूर्वपरंपरा इनकी स्वतंत्र अनादि सत्ता स्वीकार करनेवाले दर्शनोंकी अपेक्षा अनादिकाल तक और ईश्वर या परमब्रह्मसे इनकी उत्पत्ति स्वीकार करनेवाले दर्शनोंकी अपेक्षा ईश्वर या परमब्रह्मसे जबसे इनकी उत्पत्ति स्वीकार की गयी है तब तक माननी पड़ती है।

(३) चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंकी शरीरबद्धताका कारण उनका स्वभाव है—यह मानना असंगत है, कारण कि एक तो स्वभाव परतन्त्रताका कारण ही नहीं हो सकता है। दूसरे, स्वभावसे प्राप्त हुई परतन्त्रताकी हालतमे उन्हें दुःखानुभवन नहीं होना चाहिये, लेकिन दुःखानुभवन होता है। इसलिये सभी चित्शक्तिविशि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ष्टतत्त्वोंकी शरीरबद्धताका कारण स्वभावसे भिन्न किसी दूसरी चीजको ही मानना युक्तियुक्त जान पड़ता है और इसीलिये सांख्यदर्शनमें त्रिगुणात्मक (सत्वरजस्तमोगुणात्मक) अचित् प्रकृतिको, वेदान्तदर्शनमें असत् कही जानेवाली अविद्याको, मीमांसादर्शनमें चित्शक्तिविशिष्ट तत्वोंमें विद्यमान अशुद्धि (दोष) को, ईश्वरकर्तृत्व-वादी योग, न्याय और वैशेषिक दर्शनोंमें इच्छा, ज्ञान और कृति शक्तित्रयविशिष्ट ईश्वरको, जैनदर्शनमें अचित् कर्म (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि द्रव्योंका सजातीय पौद्गलिक वस्तुविशेष) को और बौद्धदर्शनमें विपरीताभिनिवेशस्वरूप अविद्याको उसका कारण स्वीकार किया गया है। इनमेंसे योग, न्याय और वैशेषिक दर्शनोंमें माना गया ईश्वर उनकी मान्यताके अनुसार चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वोंके साथ असंबद्ध रहते हुए भी उनके मन, वचन और शरीर सम्बन्धी पुण्य एवं पापरूप कृत्योंके आधारपर सुख तथा दुःखके भोगमें सहायक शरीरके साथ उन्हें आबद्ध करता रहता है। शेष सांख्य आदि दर्शनोंमें चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वोंकी शरीरबद्धता-में माने गये प्रकृति आदि कारण उन चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंके साथ किसी-न-किसी रूपमें संबद्ध रहते हुए ही उनके मन, वचन और शरीर सम्बन्धी पुण्य एवं पापरूप कृत्योंके आधारपर सुख तथा दुःखके भोगमें सहायक शरीरके साथ उन्हें आबद्ध करते रहते हैं। इसी प्रकार चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वोंकी शरीरबद्धताकी जिस पूर्व-परम्पराका उल्लेख पहले किया जा चुका है उसकी संगतिके लिये योग, न्याय और वैशेषिक दर्शनोंमें ईश्वरको शाश्वत (अनादि और अनिधन) मान लिया गया है तथा एक जैनदर्शनको छोड़कर शेष सांख्य आदि सभी दर्शनोंमें चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वोंके साथ प्रकृति आदिके सम्बन्धको यथायोग्य अनादि अथवा ईश्वर या परमब्रह्म-से उनकी (चित्शक्तिविशिष्टतत्वोंकी) उत्पत्ति होनेके समयसे स्वीकार किया गया है। जैनदर्शनमें चित्शक्ति-विशिष्टतत्वोंको शरीरबद्धतामें कारणभूत धर्मके सम्बन्धको तो सादि स्वीकार किया गया है परन्तु उनकी उस शरीरबद्धताको पूर्वोक्त अविच्छिन्न परम्पराकी संगतिके लिये वहांपर (जैनदर्शनमें) शरीरसम्बन्धकी अविच्छिन्न अनादि परम्पराकी तरह उसमें कारणभूत कर्मसम्बन्धकी भी अविच्छिन्न अनादि परम्पराको स्वीकार किया गया है और इसका आशय यह है कि यदि चित्शक्तिविशिष्टतत्वोंकी शरीरबद्धतामें कारणभूत उक्त कर्मसम्बन्ध को अनादि माना जायगा तो उस कर्मसम्बन्धको कारण रहित स्वाभाविक ही मानना होगा, लेकिन ऐसा मानना इसलिये असंगत है कि इस तरहसे प्राणियोंके जन्म-मरण अथवा सुख-दुःखकी परंपरास्वरूप संसारका सर्वथा विच्छेदके अभावका प्रसंग प्राप्त होगा, जो कि सांख्य, वेदान्त, योग, न्याय, वैशेषिक, जैन और बौद्ध इन दर्शनों मेंसे किसी भी दर्शनको अभीष्ट नहीं है। मीमांसादर्शनमें जो प्राणियोंके जन्म-मरण अथवा सुःख-दुखकी परं-परारूप संसारका सर्वथा विच्छेद नहीं स्वीकार किया गया है उसका सबब यही है कि वह चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंमें विद्यमान अशुद्धिके सम्बन्धको अनादि होनेके सबब कारणरहित स्वाभाविक स्वीकार करता है। परन्तु जो दर्शन प्राणियोंके जन्म-मरण अथवा सुख-दुःखकी परम्परास्वरूप संसारका सर्वथा विच्छेद स्वीकार करते हैं उन्हें चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वोंकी शरीरबद्धतामें कारणरूपसे स्वीकृत पदार्थके सम्बन्धको कारणसहित—अस्वा-भाविक ही मानना होगा और ऐसा तभी माना जा सकता है जबकि उस सम्बन्धको सादि माना जायगा। यही सबब है कि जैनदर्शनमें मान्य प्राणियोंके जन्म-मरण अथवा सुख-दुःखकी परम्परास्वरूप संसारके सर्वथा विच्छेदको संगतिके लिये वहांपर (जैनदर्शनमें) शरीरसम्बन्धमें कारणभूत कर्मके सम्बन्धको तो सादि माना गया है और शरीरसम्बन्धकी पूर्वोक्त अनादि परम्पराकी संगतिके लिये उस कर्मसम्बन्धकी भी अविच्छिन्न परम्पराको अनादि स्वीकार किया गया है। इसकी व्यवस्था जैनदर्शनमें निम्न प्रकार बतलायी गयी है—

जैनदर्शनमें कार्माणवर्गणा नामका चित्शक्तिसे रहित तथा रूप, रस गंध और स्पर्श गुणोंसे युक्त होनेके कारण पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु तत्त्वोंका सजातीय एक पौद्गलिक तत्त्व स्वीकार किया गया है। यह तत्त्व बहुत ही सूक्ष्म है और पृथ्वी आदि तत्त्वोंकी ही तरह नाना परमाणुपुंजोंमें विभक्त होकर समस्त-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोकाकाशमें सर्वदा अवस्थित रहता है। प्राणियोंकी मन, वचन और शरीरके जरिये पुण्य एवं पापरूप कार्योंमें जो प्रवृत्ति देखी जाती है उस प्रवृत्तिसे उस कार्माणवर्गणाके यथायोग्य बहुतसे परमाणुओंके पुंज-के-पुंज उन प्राणियोंके शरीरमें रहने वाले चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंके साथ चिपट जाते हैं अर्थात् अग्निसे तपा हुआ लोहेका गोला पानीके बीचमें पड़ जानेसे जिस प्रकार चारों ओरसे पानीको खींचता है उसी प्रकार अपने मन, वचन और शरीर सम्बन्धी पुण्य एवं पापरूप कृत्यों द्वारा गरम हुआ (प्रभावित) उक्त चित्शक्तिविशिष्टतत्त्व समस्त लोकमें व्याप्त कार्माणवर्गणाके बीचमें पड़जानेके कारण चारों ओरसे उस कार्माणवर्गणाके यथायोग्य परमाणु-पुंजोंको खींच लेता है और इस तरहसे कार्माणवर्गणाके जितने परमाणुपुंज जबतक चित्शक्तिविशिष्टतत्त्वोंके साथ चिपटे रहते हैं तबतक उन्हें जैनदर्शनमें 'कर्म' नामसे पुकारा जाता है तथा इस कर्मसे प्रभावित होकरके ही प्रत्येक प्राणी अपने मन, वचन और शरीर द्वारा पुण्य एवं पापरूप कृत्य किया करता है अर्थात् प्राणियोंकी उक्त पुण्य एवं पापरूप कार्योंमें प्रवृत्ति करानेवाले ये कर्म ही हैं। प्राणियोंकी पुण्य एवं पापरूप कार्योंमें प्रवृत्ति करा देनेके बाद इन कर्मोंका प्रभाव नष्ट हो जाता है और ये उस हालतमें चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंसे पृथक् होकर अपना वही पुराना कार्माणवर्गणाका रूप अथवा पृथ्वी आदि स्वरूप दूसरा और कोई पौद्गलिक रूप धारण कर लेते हैं।

यहांपर यह खासतौरसे ध्यानमें रखने लायक बात है कि इन कर्मोंके प्रभावसे प्राणियोंकी जो उक्त पुण्य एवं पापरूप कार्योंमें प्रवृत्ति हुआ करती है उस प्रवृत्तिसे उन प्राणियोंके अपने-अपने शरीरमें रहनेवाले चित्शक्तिविशिष्टतत्त्व कार्माणवर्गणाके दूसरे यथायोग्य परमाणुपुंजोंके साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं और इस तरहसे चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंकी पूर्वोक्त शरीरसम्बन्धपरम्पराकी तरह उसमें कारणभूत कर्मसम्बन्धकी परम्परा भी अनादिकालसे अविच्छिन्नरूपमें चली आ रही है। अर्थात् जिस प्रकार वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्ष की उत्पत्ति होते हुए भी उनकी यह परम्परा अनादिकालसे अविच्छिन्न रूपमें चली आ रही है उसी प्रकार कर्मसम्बन्धसे चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंका शरीरके साथ सम्बन्ध होता है। इस सम्बद्धशरीरकी सहायतासे प्राणी पुण्य एवं पापरूप कार्य किया करते हैं। उन कार्योंसे उनके साथ पुनः कर्मोंका बन्ध हो जाता है और कर्मोंका यह बन्धन उन्हें दूसरे शरीरके साथ सम्बद्ध करा देता है। इस तरहसे यह कर्मसम्बन्धपरम्परा भी अनादिकाल से अविच्छिन्न रूपमें चलती रहती है।

इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीरके साथ चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंके आबद्ध होनेका कारण सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, योग, न्याय, वैशेषिक जैन और बौद्ध इन सभी दर्शनोंमें स्वरूप तथा कारणताके प्रकारकी अपेक्षा यद्यपि यथायोग्य भिन्न-भिन्न बतलाया गया है तथापि इस बातमें ये सभी दर्शन एकमत हैं कि शरीरके साथ चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंके आबद्ध होनेका कारण अतिरिक्त पदार्थ है।

(४) उल्लिखित तीन सिद्धान्तोंके साथ-साथ एक चौथा जो सिद्धान्त इन दर्शनोंमें स्थिर होता है वह यह है कि जब चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्वोंका शरीरके साथ संबद्ध होना उनसे अतिरिक्त कारणके अधीन है तो इस शरीरसंबंधपरंपराका उक्त कारणके साथ-साथ मूलतः विच्छेद भी किया जा सकता है। परन्तु इस चौथे सिद्धान्तको मीमांसादर्शनमें नहीं स्वीकार किया गया है क्योंकि पहले बतलाया जा चुका है कि मीमांसादर्शनमें शरीरसम्बन्धमें कारणभूत अशुद्धिके सम्बन्धको अनादि होनेके सबब अकारण स्वीकार किया गया है। इसलिये उसकी मान्यताके अनुसार इस सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद होना असंभव है।

इन सिद्धान्तोंके फलित अर्थके रूपमें निम्नलिखित पाँच तत्त्व कायम किये जा सकते हैं—(१) नाना चित्शक्तिविशिष्ट तत्त्व, (२) इनका शरीरसम्बन्धपरंपरा अथवा सुख-दुःखपरंपरारूप संसार, (३) संसारका कारण, (४) संसारका सर्वथा विच्छेद स्वरूपमुक्ति और (५) मुक्तिका कारण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चार्वाक दर्शनमें इन पाँचों तत्त्वोंको स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि ये पाँचों तत्त्व परलोक तथा मुक्तिकी मान्यतासे ही सम्बन्ध रखते हैं। मीमांसादर्शनमें इनमेंसे आदिके तीन तत्त्व स्वीकृत किये गये हैं, क्योंकि आदिके तीन तत्त्व परलोककी मान्यतासे सम्बन्ध रखते हैं और मीमांसादर्शनमें परलोककी मान्यताको स्थान प्राप्त है। परन्तु वहाँ पर (मीमांसादर्शनमें) भी मुक्तिकी मान्यताको स्थान प्राप्त न होनेके कारण अन्तके दो तत्त्वोंको नहीं स्वीकार किया गया है। शेष सांख्य, वेदान्त, योग, न्याय और वैशेषिक तथा जैन और बौद्धदर्शनमें इन पाँचों तत्त्वोंको स्वीकार गया गया है, क्योंकि इन दर्शनोंमें परलोक और मुक्ति दोनोंकी मान्यताको स्थान प्राप्त है।

जैन संस्कृतिकी जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्षस्वरूप सप्ततत्त्ववाली जिस पदार्थमान्यताका उल्लेख लेखमें किया गया है उसमें उक्त दर्शनोंको स्वीकृत इन पाँचों तत्त्वोंका ही समावेश किया गया है अर्थात् सप्ततत्त्वोंमें स्वीकृत प्रथम जीवतत्त्वसे चित्‌शक्तिविशिष्ट तत्त्वका अर्थ लिया गया है, द्वितीय अजीवतत्त्वसे उक्त कार्माणवर्गणाका अर्थ स्वीकार करते हुए इन दोनों अर्थात् चित्‌शक्तिविशिष्ट-तत्त्व स्वरूप जीवतत्त्व और कार्माणवर्गणास्वरूप अजीवतत्त्वकी सम्बन्धपरम्परारूप मूल संसारको चौथे बन्ध-तत्त्वमें समाविष्ट करके चित्‌शक्तिविशिष्टतत्त्वके शरीरसम्बन्धपरंपरारूप अथवा सुख-दुःखपरंपरारूप संसारको इसीका विस्तार स्वीकार किया गया है। तीसरे आस्रवतत्त्वसे उक्त जीव और अजीव दोनों तत्त्वोंकी सम्बन्ध-परंपरारूप मूल संसारमें कारणभूत प्राणियोंके मन, वचन और शरीर सम्बन्धी पुण्य एवं पापरूप कार्योंका बोध होता है।

तत्त्वव्यवस्थामें बन्ध तत्त्वको चौथा और आस्रवतत्त्वको तीसरा स्थान देनेका मतलब यह है कि बन्ध-रूप संसारका कारण आस्रव है इसलिये कारणरूप आस्रवका उल्लेख कार्यरूप बन्धके पहले करना ही चाहिये और चूंकि इस तत्त्वव्यवस्थाका लक्ष्य प्राणियोंका कल्याण ही माना गया है तथा प्राणियोंकी हीन और उत्तम अवस्थाओंका ही इस तत्त्वव्यवस्थासे हमें बोध होता है। इसलिये तत्त्वव्यवस्थाका प्रधान आधार होनेके कारण इस तत्त्वव्यवस्थामें जीवतत्त्वको पहला स्थान दिया गया है। जीवतत्त्वके बाद दूसरा स्थान अजीवतत्त्वको देनेका सबब यह है कि जीवतत्त्वके साथ इसके (अजीवतत्त्वके) संयोग और वियोग तथा संयोग और वियोगके कारणोंको ही शेष पाँच तत्त्वोंमें संगृहीत किया गया है।

सातवें मोक्षतत्त्वसे कर्मसम्बन्धपरंपरासे लेकर शरीरसम्बन्धपरंपरा अथवा सुख-दुःखपरंपरारूप संसारका सर्वथा विच्छेद अर्थ लिया गया है और चूंकि प्राणियोंकी यह अन्तिम प्राप्य और अविनाशी अवस्था है इसलिये इसको तत्त्वव्यवस्थामें अन्तिम सातवाँ स्थान दिया गया है।

पाँचवें संवरतत्त्वका अर्थ संसारके कारणभूत आस्रवका रोकना और छठे निर्जरातत्त्वका अर्थ संबद्ध कर्मों अर्थात् संसारको समूल नष्ट करनेका प्रयत्न करना स्वीकार किया गया है। तात्पर्य यह है कि जब पूर्वोक्त संसारके आत्यन्तिक विनाशका नाम मुक्ति है तो इस प्रकारकी मुक्तिकी प्राप्तिके लिए हमें संसारके कारणोंका नाश करके संसारके नाश करनेका प्रयत्न करना होगा, संवर और निर्जरा इन दोनों तत्त्वोंकी मान्यताका प्रयोजन यही है और चूंकि इन दोनों तत्त्वोंको सातवें मोक्षतत्त्वकी प्राप्तिमें कारण माना गया है, इसलिये तत्त्वव्यवस्थामें मोक्षतत्त्वके पहले ही इन दोनों तत्वोंको स्थान दिया गया है। संवरको पाँचवाँ और निर्जराको छठा स्थान देनेका मतलब यह है कि जिस प्रकार पानीसे भरी हुई नावको डूबनेसे बचानेके लिये नावका बुद्धिमान मालिक पहले तो पानी आनेमें कारणभूत नावके छिद्रको बंद करता है और तब बादमें भरे हुए पानीको नावसे बाहर निकालनेका प्रयत्न करता है उसी प्रकार मुक्तिके इच्छुक प्राणीको पहले तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मबन्धमें कारणभूत आस्रवको रोकना चाहिये जिससे कि कर्मबन्धकी आगामी परंपरा रुक जाय और तब बादमें बद्ध कर्मोंको नष्ट करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

यहाँपर इतना और समझ लेना चाहिए कि पूर्ण संवर होजानेके बाद ही निर्जराका प्रारम्भ नहीं माना गया है बल्कि जितने अंशोंमें संवर होता जाता है उतने अंशोंमें निर्जराका प्रारम्भ भी होता जाता है। इस तरह पानी आनेके छिद्रको बंद करने और भरे हुए पानीको धीरे-धीरे बाहर निकालनेसे जिस प्रकार नाव पानी रहित हो जाती है उसी प्रकार कर्मबन्धके कारणोंको नष्ट करने और बद्ध कर्मोंका धीरे-धीरे विनाश करनेसे अन्तमें जीव भी संसार (जन्म-मरण अथवा सुख-दुःखकी परंपरा) से सर्वथा निर्लिप्त हो जाता है।

सांख्य आदि दर्शनोंको यद्यपि पूर्वोक्त पांचों तत्त्व मान्य हैं। परन्तु उनकी पदार्थव्यवस्थामें जैनदर्शनके साथ परस्पर जो मतभेद पाया जाता है उनका कारण उनका भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण ही है। तात्पर्य यह है कि सारभूत-मुख्य-मूलभूत या प्रयोजनभूत पदार्थोंको तत्त्वनामसे पुकारा जाता है। यही सबब है कि जैन दर्शनके दृष्टिकोणके मुताबिक जगत्‌में नाना तरहके दूसरे-दूसरे पदार्थोंका अस्तित्व रहते हुए भी तत्त्व शब्दके इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर प्राणियोंके आत्यन्तिक सुख (मुक्ति) की प्राप्तिमें जिनका समझ लेना प्रयोजन-भूत मान लिया गया है उन पूर्वोक्त चित्‌शक्तिविशिष्टतत्त्व स्वरूप जीव, कार्माणवर्गणास्वरूप अजीव तथा इन दोनोंके संयोगरूप बन्ध और वियोगरूप मुक्ति एवं संयोगके कारणभूत आस्रव और वियोगके कारणस्वरूप संवर और निर्जराको ही सप्ततत्त्वमयपदार्थव्यवस्थामें स्थान दिया गया है।

सांख्य दर्शनके दृष्टिकोणके अनुसार मुक्तिप्राप्तिके लिये चित्‌शक्तिविशिष्टतत्वस्वरूप पुरुष तथा इनकी शरीरसम्बन्धपरंपरारूप संसारकी मूलकारण स्वरूप प्रकृति और इन दोनोंके संयोगसे होनेवाले बुद्धि आदि पंच-महाभूत पर्यन्त प्रकृतिविकारोंको समझ लेना ही जरूरी या पर्याप्त मान लिया गया है। इसलिये सांख्यदर्शनमें नानाचित्‌शक्तिविशिष्ट तत्त्व, इनका शरीरसम्बन्धपरंपरा अथवा सुख-दुःखपरंपरारूप संसारका कारण, संसारका सर्वथा विच्छेदस्वरूप मुक्ति और मुक्तिका कारण इन पाँचों तत्त्वोंकी मान्यता रहते हुए भी उसकी (सांख्यदर्शनकी) पदार्थव्यवस्थामें सिर्फ पुरुष, प्रकृति और बुद्धि आदि तेईस प्रकृतिविकारोंको ही स्थान दिया गया है।

जैनदर्शनकी सप्ततत्त्वस्वरूप पदार्थव्यवस्थाके साथ यदि सांख्यदर्शनकी पच्चीस तत्त्वस्वरूप पदार्थ-व्यवस्थाका स्थूल रूपसे समन्वय किया जाय तो कहा जा सकता है कि जैनदर्शनके जीवतत्वके स्थानपर सांख्य-दर्शनमें पुरुषतत्वको और जैनदर्शनके अजीवतत्त्व (कार्माणवर्गणा) के स्थानपर सांख्यदर्शनमें प्रकृतितत्वको स्थान दिया गया है तथा जैनदर्शनके बन्धतत्वका यदि विस्तार किया जाय तो सांख्यदर्शनकी बुद्धि आदि तेईस तत्वोंकी मान्यताका उसके साथ समन्वय किया जा सकता है। इतना समन्वय करनेके बाद इन दोनों दर्शनोंकी मान्यताओंमें सिर्फ इतना भेद रह जाता है कि जहाँ सांख्यदर्शनमें बुद्धि आदि सभी तत्वोंको पुरुषसंयुक्त प्रकृतिका विकार स्वीकार किया गया है वहाँ जैनदर्शनमें कुछको तो प्रकृतिसंयुक्त पुरुषका विकार और कुछको पुरुषसंयुक्त प्रकृतिका विकार स्वीकार किया गया है। तात्पर्य यह है कि सांख्यदर्शनके पच्चीस तत्वोंको जैनदर्शनके जीव, अजीव और बन्ध इन तीन तत्त्वोंमें संग्रहीत किया जा सकता है। इस प्रकार सांख्यदर्शनमें पच्चीस तत्वोंके रूपमें नानाचित्‌शक्तिविशिष्ट तत्त्व और इनका शरीरसम्बन्धपरम्परा अथवा सुख-दुःख परम्परारूप संसार ये दो तत्व तो कंठोक्त स्वीकार किये गये हैं। शेष संसारका कारण, संसारका सर्वथा विच्छेद स्वरूप मुक्ति और मुक्तिका कारण इन तीन तत्वोंकी मान्यता रहते हुए भी इन्हें पदार्थमान्यतामें स्थान नहीं दिया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योगदर्शनमें नाना चित्शक्तिविशिष्टतत्व, उनका संसार, संसारका कारण, मुक्ति और मुक्तिका कारण इन तत्वोंकी मान्यता रहते हुए भी उसकी पदार्थव्यवस्था करीब-करीब सांख्यदर्शन जैसी ही है। विशेषता इतनी है कि योगदर्शनमें पुरुष और प्रकृतिके संयोग तथा प्रकृतिकी बुद्धि आदि तेईस तत्वरूप होने वाली परिणतिमें सहायक एक शाश्वत ईश्वरतत्वको भी स्वीकार किया गया है और मुक्तिके साधनोंका विस्तृत विवेचन भी योगदर्शनमें किया गया है।

सांख्यदर्शनकी पदार्थव्यवस्था योगदर्शनकी तरह वेदान्तदर्शनको भी मान्य है। लेकिन वेदान्तदर्शनमें उक्त पदार्थव्यवस्थाके मूलमें नित्य, व्यापक और एक परब्रह्म नामक तत्वको स्वीकार किया गया है तथा संसारको इसी परब्रह्मका विस्तार स्वीकार किया गया है। इस प्रकार वेदान्तदर्शनमें यद्यपि एक परब्रह्मको ही तत्वरूपसे स्वीकार किया है परन्तु वहाँपर (वेदान्तदर्शनमें) भी प्रत्येक प्राणीके शरीरमें पृथक्-पृथक् रहने वाले चित्शक्तिविशिष्टतत्वोंको उस परब्रह्मके अंशोंके रूपमें स्वीकार करके उनका असत् स्वरूप अविद्याके साथ संयोग, इस संयोगके आधारपर उन चित्शक्तिविशिष्टतत्वोंका सुख-दुःख तथा शरीर-संबन्धकी परम्परारूप संसार, इस संसारसे छुटकारा स्वरूप मुक्ति और मुक्तिका कारण ये सब बातें स्वीकार की गयी हैं। वेदान्तदर्शनमें परब्रह्मको सत् और संसारको असत् माननेकी जो दृष्टि है उसका सामञ्जस्य जैनदर्शनकी करणानुयोग-दृष्टि (उपयोगितावाद) से होता है क्योंकि जैनदर्शनमें भी संसार अथवा शरीरादि जिन पदार्थोंको द्रव्यानुयोग (वास्तविकतावाद) की दृष्टिसे सत् स्वीकार किया गया है उन्हींको करणानुयोगकी दृष्टिसे असत् स्वीकार किया गया है। तात्पर्य यह है कि जैनदर्शनमें भी करणानुयोगकी दृष्टिसे एक चित्शक्तिविशिष्ट आत्मतत्वको ही शाश्वत् होनेके कारण सत् स्वीकार किया गया है और शेष संसारके सभी तत्वोंको अशाश्वत, आत्मकल्याणमें अनुपयोगी अथवा बाधक होनेके कारण असत् (मिथ्या) स्वीकार किया गया है।

इसी प्रकार चित्शक्तिविशिष्ट तत्व, उनका पूर्वोक्त संसार और संसारका कारण इन तीन तत्वोंको स्वीकार करने वाले मीमांसादर्शनमें तथा इनके साथ-साथ मुक्ति और मुक्तिके कारण इन दो तत्वोंको मिलाकर पाँच तत्वोंको स्वीकार करने वाले न्याय, वैशेषिक और बौद्ध दर्शनोंमें भी इनका जैनदर्शनकी तरह जो तत्वरूपसे व्यवस्थित विवेचन नहीं किया गया है वह इन दर्शनोंके भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणका ही परिणाम है।

इस संपूर्ण कथनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि जैनदर्शनकी सप्ततत्वमय पदार्थव्यवस्था यद्यपि उक्त सभी दर्शनोंको स्वीकार्य है परन्तु जहाँ जैनदर्शनमें उपयोगितावादके आधारपर उसका सर्वाङ्गीण और व्यवस्थित ढंगसे विवेचन किया गया है वहाँ दूसरे दर्शनोंमें उसका विवेचन सर्वाङ्गीण और व्यवस्थित ढगसे नहीं किया गया है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org